International Journal of Humanities and Social Science Invention (IJHSSI)
ISSN (Online): 2319 – 7722, ISSN (Print): 2319 – 7714
www.ijhssi.org ||Volume 8 Issue 10 Ser.I || October. 2019 || PP 62-64

किशोरावस्था में सहायक कला शिक्षा

डॉ0 अलका तिवारी
एसोसिएट प्रोफेसर
चित्रकला विभाग
एन0ए0एस0 कॉलेज, मेरठ
समवन्यक–ललित कला विभाग
चौ0 चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

सारांश–
बालकों को सामाजिक प्राणी अथवा समाज का उपयोगी अंग बनाने में जितना श्रेय शिक्षा को छात्र है, उससे कही अधिक कला को। कला द्वारा बालक की आन्तरिक भावनाओं का प्रकटीकरण होता है।

प्रस्तावना–

बाल कला को कोई अतिरिक्त ऊर्जा का प्रकाशक कहता है, कोई भावी जीवन–विकास की तैयारी, किसी को उसमें पूर्व संस्कारों की छाया दिखाई देती है तो कोई रूद्ध–चेतना के विमोचन की प्रक्रिया देखता है। लीलाभाव या नाटकीयता के आधार पर उसे समझने का प्रयास किया गया है जिसकी व्याप्ति भारतीय दर्शन तक हुई है। सृष्टि–व्यापार ऐसा है जैसे कोई बालक अपने प्रतिबिम्ब से खेलता हो। 'बालकों अने रमत' शीर्षक से गुजराती भाषा प्रकाशित 'बाल कल्याण संघ' दिसम्बर 1961 की विवरणिका मे डा० लीला बहन ने बाल–शिक्षा एवं बाल–मनोविज्ञान के अनेक सिद्धान्त प्रतिपादकों के मतों का उल्लेख करते हुए अन्ततः बाल कला को बाल–क्रीड़ा का ही एक सर्जनात्मक रूप माना है। आधुनिक कला को पूरी तरह इस आधार पर व्याख्यायित करना सम्भव नहीं है। बाल कला के विषय में हमें यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि आत्म–अभिव्यंजना का एक विशिष्ट माध्यम है।

शिक्षा के स्वाभाविक और आवश्यक अंगों को छोड़कर हमने ऐसे विषयों पर अधिक ध्यान दिया, जो मनुष्य का एकतरफा विश्वास करते हैं, जिनके कारण व्यक्तित्व का बड़े–से–बड़ा भाग अतृप्त रह जाता है। भारतीय समाज में बाल्यवस्था में कला–शिक्षा को अभी तक उचित स्थान नहीं मिला है। जहाँ मिलता भी है, वहाँ बच्चा ग्यारह–बारह वर्ष का होते ही उसके शिक्षा–क्रम में कला–प्रवृत्तियों को निकाल दिया जाता है। ऐसा ही हर्बर्ट रीड ने कहा हैः

हमारा अनुभव हमें बताता है कि हर व्यक्ति ग्यारह साल की उम्र के बाद किशोर–अवस्था और उसके बाद भी सारे जीवन–काल तक किसी न किसी कला प्रवृत्ति को अपने भाव–प्रकटन का जरिया बनाये रख सकता है। आज के सभी विषय–जिन पर हम अपनी श्रद्धा करते हैं, जैसे गणित, भूगोल, इतिहास, रासायन शास्त्र और यहाँ तक कि साहित्य भी जिस तरह पढ़ाये जाते हैं, उन की सबकी बुनियाद तर्क है, पर एकमात्र जोर देने के कारण कला–प्रवृत्तियां केवल पाठ्यक्रम से नहीं दिमाग से भी बिल्कुल निकल जाती हैं। किशोर–अवस्था को इस तरह गलत रास्ते पर ले जाने का नतीजा भयानक हो रहा है। उसका मानस अस्वस्थ है, परिवार दुःखी है। कला की प्रवृत्तियां, हमारे जीवन को सुन्दर और सुसमंजस्य बना सकती हैं, और राष्ट्र के साथ राष्ट्र का बन्धुत्व कायम कर सकती है। उन्हें फिजूल और निरर्थक कहकर टाल देते है।'' किशोर–अवस्था के समय शब्दों की भाषा आ जाती हैं, तो कोई कारण नहीं कि आकार की भाषा को छोड़ दिया जाय। यह कहना कि बालक खुद ही कला–प्रवृत्तियों में रूचि लेना बन्द कर देता है, उचित नहीं होगा। चूंकि भारतीय शिक्षा–क्रम में और पाठशाला के साधारण वातावरण में इन प्रवृत्तियों के लिए कोई खास आग्रह नहीं है और न ही उन्हें शिक्षा का अंग माना जाता है, इसीलिये यह अपने आप ही छूट जाती है। होना तो यह चाहिए कि भाषा आने के बाद बालक का आत्म–प्रकटन का तरीका और भी समृद्ध हो। पहले उसके पास केवल आकार की ही भाषा थी और अब दूसरी भाषा भी आ जाती है।

भारतीय समाज में शिक्षा के ढांचे की बुनियाद कलात्मक प्रवृत्तियां होनी चाहिए। हमें किशोर–अवस्था में भी कला की ओर वही दृष्टि रखनी पड़ेगी, जो बाल्यावस्था में रखी जाय। हमें इस विचार की मुखालफत करनी पड़ेगी कि बाल्यास्था के बाद सृजनात्मक शक्ति का लोप हो जाना स्वाभाविक है और तालीम में क्रंतिकारी परिवर्तन करने पड़ेगे।

कुछ लोगों की यह कोशिश होती है कि बच्चों की कला उनका बचपन चले जाने के बाद व्यस्कों की कला हो जानी चाहिए। सिजेक ने इस बारे में कहा हैः ''लोग गलत सोचते हैं कि बच्चों की कला व्यस्कों की कला का पहला कदम है। यह खुद में एक निराली वस्तु है। औरों से अलग और विच्छिन्न, वह अपने ही नियमों पर चलती है, व्यस्कों के नियमों पर नहीं। एक बार इसका प्रस्फुटित होने का काल समाप्त हुआ है तो फिर कभी वापस नहीं आयेगा।

इसलिये 'बच्चों की कला' के समय को बढ़ाने की बात नहीं कर सकते। लेकिन जो कला–अनुभव बाल्यावस्था में बालक के जीवन को प्रफुल्लित करते आये और जिन कला–अनुभवों का दावा यह रहा है कि वे पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने में मदद करते हैं, वे कला–अनुभव क्या 12–13 साल की उम्र के बाद निकम्मे साबित होंगे? जो परम्परा उन अनुभवों ने व्यक्ति के जीवन के प्रारम्भिक काल में तैयार की है, क्या अब उसका कोई उद्देश्य नहीं रहा?

हमारी पुरानी भारतीय शिक्षा–प्रणाली में कला और जीवन का यह विच्छेद, जो आज पाया जाता है, नहीं था। शिक्षा का उद्देश्य साधन था। 'ज्ञान' शब्द का अर्थ अधूरा नहीं था। उसमें जानकारी, बोध और विवेक, यहाँ तक कि अहंकार का निराकरण और विनय भी आ जाते थे। विद्यार्थी केवल शास्त्रीय शिक्षण नहीं, बल्कि व्यावहारिक शिक्षण भी पाता था। गुरूकुल में चला गया, तो चूल्हे के लिए जलवान चुनने से लेकर हर तरह की आवश्यक शिक्षा प्राप्त करता था। अपनी वंशीय पृष्ठभूमि के अनुसार उसका शिक्षण होता था। क्षत्रिय हो तो उसे धनुर्विद्या, राजनीति आदि चतुषष्ठि–कलाओं में प्रवीण होना पड़ता था। इसी प्रकार जाति और वंश के अनुसार शिक्षा पाकर वह पूरी तैयारी के साथ संसार में प्रवेश करता था। कारीगरों और साधारण नागरिकों की संतान भी पिता के पास रहकर अपने धन्धे की शिक्षा प्राप्त करती थी और अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं का ज्ञान हासिल करती थी। यह शिक्षा अपने में सम्पूर्ण और समन्वित थी।

वास्तविकता परिचयकाल के अन्त के समय ऐसी एक अवस्था आती है, जबकि बालक को अपने चित्रों में गहराई का भान देने की जरूरत होती है। तब उसे वस्तुओं की केवल लम्बाई और चौड़ाई में ही बैठाने से सन्तोष नहीं होता, बल्कि गहराई में भी वस्तुएं बैठायी जानी चाहिए, इसका बोध होने लगता है। काफी बालक तो ऐसे होते हैं, जो अगर वातावरण ठीक रहा, तो इस परिस्थिति का मुकाबला अपने आप कर लेते हैं। किन्तु कुछ बालकों को इस समय 'मदद' की जरूरत होती है। अगर इस समय उचित मदद न मिले, तो सम्भव है, बालक हताश हो जाय और चित्रकला की प्रवृत्ति में अरूचि महसूस करने लगे। बालक जब चाक्षुष अनुभवों को चित्र में दर्शाना चाहता है, तो उसे इस तरह के नियमों को बड़ी सरलता के साथ बताना चाहिए। यह आमतौर पर 12–13 वर्ष की आयु से पहले जरूरी नहीं होता। कुछ ऐसे अनुभव होते हैं, जो केवल चित्रकार द्वारा ही प्रकट किये जा सकते हैं। बच्चों की बुनियादी भाषा, आकार की भाषा होती है। इसलिए चित्रकला उनके आत्म–प्रकटने के लिए बहुत अच्छा माध्यम है।

कई किस्म के काम होते हैं। किस्म–किस्म के काम करने से बालकों की अलग–अलग भावनाओं, वृत्तियों और कर्मेन्द्रियों को सन्तोष मिलता है। बढ़ई के औजार इस्तेमाल करने से एक किस्म का और पेंसिल, कागज तथा रंग इस्तेमाल करने से और एक किस्म का सन्तोष होता है।

गहराई का बोध, जिसे 'पर्सपेक्टिव' कहते हैं, बच्चों के चित्र में न रहना ही स्वाभाविक है। किन्तु दूर और नजदीक का भाव बच्चों को अपने ढंग से होता ही है। उनका पर्सपेक्टिव चाक्षुष नहीं, मानसिक होता है। ठीक उम्र आने पर बच्चों को स्वयं चाक्षुष और पर्सपेक्टिव की आवश्यकता महसूस होती है। वह उम्र दस–ग्याहर साल के बाद ही आती है। इसे बनाना चाहते हैं।

11 वे 14 वर्ष की आयु में पर्दापण करते ही बच्चें में वस्तुओं के सूक्ष्म–निरीक्षण की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। फलस्वरूप जैसा वह देखते हैं वैसा ही अंकन करने का प्रयास करने लगते हैं। यह प्रयत्न वे काफी रूचि तथा समय देकर करते हैं। यह समस्त प्रक्रिया बालक के स्वाभाविक विकास को अभिव्यंजित करती है।

किन्तु बालकों की यह आरम्भिक किशोरावस्था अथवा संक्रमणकालीन दौर उन्हें जल्दी तथा अनायास ही हतोत्साहित, चिन्तित वह दुर्बल बना देता है। कला के कार्य में यह किशोर तब और जल्दी हतोत्साहित हो जाते हैं जब वे जैसा देखते हैं बिल्कुल वैसा ही चित्रण नहीं कर पाते। कभी–कभी इस हताशावस्था में वे पुनः भावनाओं की अभिव्यंजना में रूचि लेने लगते हैं और धीरे–धीरे उनके चित्रों में मानवीय आकृतियां विलुप्त होने लगती हैं।

लगभव पन्द्रह वर्ष की अवस्था में किशोर इस स्थिति में पहुँचता है। जब वह सही रूप में कलात्मक ढंग से काम करने हेतु परिपक्व हो जाता है। इस उम्र में उसके चित्रों में कथ्यात्मकता बढ़ जाती है। स्त्री–पुरूष के चित्रों में भिन्नता स्थापित कर भिन्न ढंग से स्वरूप बनाने लगता है। लड़कियाँ अक्सर रंगों की भव्यता, आकृतियों के सौन्दर्य तथा रेखाओं के सौष्ठव में रूचि लेने लगती है।

हमने देखा कि बच्चे के चित्रों में क्रमशः परिवर्तन होता रहता है। उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं। इसका कारण यह है कि बच्चा हर समय कुछ–न–कुछ नयी बात ग्रहण करता रहता है। उसके हर अनुभव उसके विकास की अवस्था को थोड़ा–थोड़ा बदलते रहते हैं। आगे चलकर किशोरावस्था में विकासशील बालकों के आसपास का प्राकृतिक परिवेश मानवीय परिवेश में रूपान्तरित होना प्रारम्भ कर देता है। इस बात की कोई जानकारी नहीं होती कि यह अभिन्नवादी अवस्था आगे चलकर क्या रूप लेगी। भावना कल्पना का महत्व या आकृति या कोई मानक, आदर्श या वर्गीकरण नहीं होता लेकिन प्रकाश और छाया की क्रीड़ा, संकेन्द्रीकरण और दृश्य का प्रत्यक्ष निरीक्षण होता है। यहाँ तहाँ रचना के दृष्टिगत प्रयत्न मिलते हैं और यह रेखाओं तथा रूपों के ऐसे संघर्ष के माध्यम से होता है जिसमें वे अपने आपको सम्बोधित रख सकें और यह सम्बन्ध मुक्त भाव से होता है जिसमें भाव, अर्थ के संवहन की गत्यात्मक प्ररेणा और प्रवृत्ति का अनुसरण होता है। तथापि, विभिन्न अवस्थाओं के दौरान शरीर की भंगिमा पर बल, रंगों में आँखों की चमक या भाव और अंकित कागज अथवा अन्य सामग्री की साहसिक गति गत्यामक रूपाकृतियों के माध्यम से देखी जा सकती हैं।

जब विकासशील बालक स्नायुओं, कन्दराओं और प्रबल भावनाओं की प्रेरक शक्ति की पूर्ण विवशता से अपनी चेष्टा, संकेत और कार्य को उद्वेलित करता है तो बालक का स्वांग या अनुकरण, खेल और अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक स्थिति ग्रहण कर लेते है। बालक की रेखाकृतियाँ, चित्रांकन या नमूने इस प्रकार स्थूल कला को आन्तरिक अभिव्यक्तियों के रूप में वाहृय दृष्टि के रूपान्तरण में प्रस्तुत कर देते हैं।

कहा जा सकता है कि शिशु पहले कल्पना से कलाकृतियों की रचना करता है, तत्पश्चात् स्मृति एवं प्रकृति से प्रभावित होता है। इस विभिन्न परिस्थितियों के बीच–बीच में स्पष्ट मोड़ नहीं दिखाई देते है। कभी–कभी दो स्थितियाँ बहुत समय तक साथ–साथ भी चलती है।

''सिजेक ने कहा हैः ''बच्चों की कला का मुख्य उद्देश्य यह है कि वह बालक की सृजनात्मक शक्ति का जो विकास होता है, वह तभी चालू रखा जाय। सृजनात्मक प्रवृत्तियां केवल बाल्यवस्था में ही रहती हैं, ऐसा नहीं; किशोरावस्था में जाकर उनका स्वरूप अलग तरह का हो।

बाल्यवस्था में जिस तरह कला शिक्षा का क्रम बालक की स्वाभाविक विकास के अनुसार होना चाहिए कि किशोरावस्था में भी उसी प्रकार होना चाहिए। हमारे आज के सामाजिक ढांचे और शिक्षण पद्धति के कारण यह प्रवृत्ति किशोरावस्था तक पहुँचते–पहुँचते समाप्त हो जाती है। उम्र के हिसाब से जीवन मूल्य बदलते रहते हैं। कला हर उम्र के बालकों में सृजनात्मकता के साथ एक स्वस्थ दृष्टि, व आनन्द का संचार करती है जो किशोर बालकों के व्यक्तित्व विकास में अत्यन्त सहायक है।

निष्कर्ष–

आज बच्चों की कला का महत्व बहुत बढ़ गया है। शिक्षा शास्त्री मानते है कि व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के कला शिक्षा जरूरी है। अभिभावक व शिक्षकों को वातावरण का निर्माण करना चाहिए ताकि बालकों की अर्न्तनिहित भावनाऐं प्रकट हो और बालकों के कला बोध का भी विकास हो। किशोर जिनके विकास क्रम की अगली सीढ़ी युवा अवस्था है, उनको शारीरिक व मानसिक रूप से सुदृढ़ व सशक्त बनाना होगा क्योंकि यही आगे चलकर युवा भारत की निर्माण करेंगे तथा राष्ट्र के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेंगे परन्तु इसके लिए समाज में अभिभावको व शिक्षकों को पूरी ईमानदारी व सावधानीपूर्वक दायित्व का निर्वहन करना होगा। किशोरावस्था बाल जीवन की बहुत ही नाजुक व कोमल अवस्था है। कला द्वारा किशोरावस्था की अनगिनत भावनाओं व विचारों का प्रकटीकरण आसानी से हो जाता है। अतः किशोरावस्था में कला का महत्व ओर भी बढ़ जाता है। हम दृढ़तापूर्ण कह सकते है कि किशोरावस्था कला शिक्षा सदैव से ही सहायक रही है और सदैव रहेंगी।

सन्दर्भ सूची

1. रीड हर्बर्ट, आर्ट एण्ड सोसायटी, फेबर एण्ड फेबर, लन्दन।
2. फ्रायबेल, एजूकेशन ऑफ मैन, डी० स्फलटन सेंपुरी कम्पनी, लन्दन।
3. टामलिनसन आर.आर., चिल्ड्रन एज आर्टिस्ट्स, किंग पैग्विन सिरीज, लन्दन, 1947
4. कला चिन्तन पृष्ठ 72